।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक तीसरा

६३

प्रथम अषाढ़
२४७६

सतपुरुषों का वचनामृत

जीव को परिभ्रमण करते अनन्तकाल हो गया, तथापि उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती? और 'वह क्या करने से हो?'

– इस वाक्य में अनेक अर्थों का समावेश है। उसका विचार किये बिना या दृढ़ विश्वास से झूरे बिना मार्ग के अंश का अल्पभान नहीं होता। अन्य सब विकल्प दूर करके यह एक ऊपर लिखा हुआ सतपुरुषों का वचनामृत बारम्बार विचार लेना।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

इस अंक के लेख

१- आत्मा की सच्ची समझ
२- धर्म कैसे हो?
३- सौराष्ट्र के पाटनगर में श्री पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव और जिनेन्द्र शासन का जयकार
४- आत्मा की समझ का उपदेश
५- स्वभाव शक्ति का विश्वास
६- कौन कर्त्ता और क्या उसका कार्य?

भेदविज्ञान की महिमा

एकमात्र भेदविज्ञान के अतिरिक्त अनन्तकाल में सब कर चुका है, परन्तु भेदविज्ञान कभी एक क्षणमात्र भी प्रगट नहीं किया। एक क्षणमात्र का भेदविज्ञान आनन्द जन्म-मरण का नाशक है। जैसे-पहाड़ पर बिजली गिरे और उसके सैकड़ों टुकड़े हो जायें तो वे फिर से नहीं जुड़ सकते; उसी प्रकार यदि जीव एकबार भी भेदविज्ञान प्रगट करे तो उसकी मुक्ति हो जाये और फिर से उसे अवतार करना न रहे। इसलिए भेदविज्ञान निरन्तर भावना करने योग्य है।

भेदविज्ञान प्रगट करने की तैयारीवाले जीव को देशनालब्धि अवश्य होती है। सतसमागम के बिना मात्र शास्त्र के अभ्यास से देशनालब्धि नहीं हो सकती। किसी आत्मानुभवी पुरुष के पास से 'धर्म-देशना का साक्षात् श्रवण किए बिना कोई भी जीव शास्त्र-स्वाध्याय करके भेदविज्ञान प्रगट नहीं कर सकता; इसलिए जिन आत्मार्थियों को अति महिमावन्त भेदविज्ञान प्रगट करके इन संसार दुःखों से परिमुक्त होना हो, उन्हें सतसमागम से उपदेश श्रवण करके तत्त्व का निर्णय करना चाहिए। भेदविज्ञान ही इस जगत में सारभूत है। भेदविज्ञान से रहित जो भी कुछ है, वह सब निःसार है। इसलिए आत्मार्थी जीवों को, प्रतिपल इस भेदविज्ञान की भावना करना योग्य है।'

– भेदविज्ञानसार

प्रथम अषाढ़
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–३

आत्मा की सच्ची समझ

[पद्मनन्दि पंचविंशतिका पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों में से]

आत्मा ज्ञानस्वरूपी वस्तु है, उसका कभी आदि नहीं हुआ है, इससे वह अनादि है और कभी उसका नाश नहीं होता, इससे वह अनन्त है। आत्मा अपनी जाति को भूलकर अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। यह शरीर जड़ परमाणुओं का बना हुआ है, इससे आत्मा पृथक् है। यह शरीर तो नवीन उत्पन्न हुआ है, परन्तु आत्मा कहीं नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है। शरीर उत्पन्न होने के पूर्व भी आत्मा तो कहीं दूसरे भव में था। शरीर का तो नाश हो जाता है। शरीर नष्ट हो जाने के पश्चात् भी आत्मा रहेगा। शरीर से भिन्न, चैतन्यस्वरूप आत्मा का अज्ञान है, इससे जीव नये-नये भव-धारण करके संसार में परिभ्रमण करता है; उस अज्ञान को दूर करने का उपाय सत्समागम से सच्चा ज्ञान करना ही है। जिस प्रकार बहुत समय के अंधकार को दूर करने का उपाय दीपक ही है; उसी प्रकार आत्मा की पहचान करके सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश प्रगट करना ही अनादि के अज्ञान-अन्धकार को टालने का उपाय है। इसके अतिरिक्त जड़ शरीर की किसी क्रिया से या पुण्य परिणामों से अज्ञान-अन्धकार दूर नहीं होता। अन्धकार दूर करने के लिए प्रकाश न करे और दूसरा चाहे जितना परिश्रम करे तो अन्धकार दूर नहीं होगा। प्रकाश प्रगट करना ही अन्धकार को दूर करने का उपाय है। उसी प्रकार चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के ज्ञान बिना दया, दान, व्रत, पूजा, त्याग इत्यादि चाहे जितना करे, तथापि अज्ञान दूर नहीं होगा और जन्म-मरण का अन्त नहीं आएगा। अनन्तकाल में जीव अन्य सबकुछ कर चुका है, लेकिन आत्मा की सच्ची समझ कभी नहीं की है। आत्मा के अज्ञान के कारण ही जीव अनन्तकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यदि एक क्षण भी आत्मा की रुचि करके उसे पहचाने तो उसके जन्म-मरण का अन्त आये बिना नहीं रहे; इससे सर्वप्रथम आत्मा को यथार्थ समझने का ही उपदेश है।

सिहंनी, सिंह से नहीं डरती, क्योंकि उसे भान है कि यह प्राणी मेरी जाति का है; उसी प्रकार

'मैं आत्मा विकाररहित ज्ञानमूर्ति हूँ, सिद्ध भगवान की और मेरी एक ही जाति है'–ऐसा भान करे, वह जीव निर्भय होता है। यदि विकाररहित परिपूर्ण आत्मस्वभाव का भान करे तो भवभय दूर हो जाता है; 'मैं अनन्त भव में भ्रमण करूँगा'–ऐसी शंका उसे नहीं रहती, परन्तु सिद्ध समान अपने आत्मा की जाति को नहीं पहचाने, उसे भव का भय दूर नहीं होता।

जिस प्रकार कोई मनुष्य कपड़े का थान लेकर दरजी के पास कपड़े सिलाने जाये तो वहाँ उसे जिस प्रकार के कपड़े बनवाना हों, उनकी जाति और माप जाने बिना वह दरजी यदि थान काटने लगे तो सारा थान बेकार ही चला जायेगा। कपड़ों की जाति और माप निश्चित करने में जो समय जाता है, वह भी कपड़ों के लिए ही है। उसी प्रकार पहले आत्मा की जाति को जाने बिना पुण्य में और शरीर की क्रिया में धर्म माने तो उसका काल व्यर्थ जाता है। आत्मा का सच्चा ज्ञान किए बिना व्रत-उपवासादि से धर्म होना मान ले, उसे धर्म तो नहीं होता, परन्तु मनुष्य-भव व्यर्थ चला जाता है। दरजी भी पहले कपड़ों की जाति और माप जान लेने पर ही कपड़े को काटता है; उसी प्रकार धर्म करनेवाले को पहले आत्मा का सच्चा ज्ञान करना चाहिए। सच्ची समझ के प्रयत्न में जो समय जाता है, वह भी धर्म का कारण है। प्रथम आत्मा की यथार्थ समझ करने के पश्चात् उसमें स्थिर होने की क्रिया करे तो मोक्षदशा तैयार होती है।

आत्मा की मूल बात तो सूक्ष्म है; यह तो आत्मा की महिमा की स्थूल झाँकी दी जा रही है। इस बात की महिमा लाकर अधिक परिचय करे तो विशेष समझ में आती है। यह शरीर, आत्मा का नहीं है; मरणकाल में बिस्तर पर पड़ा हो और आत्मा श्वास लेने की बहुत इच्छा करे, तथापि श्वास भी बराबर नहीं ले सकता; क्योंकि श्वास लेने की क्रिया आत्मा की नहीं है। लोग भी कई बार कहते हैं कि श्वास भी सगा नहीं है। जब श्वास भी आत्मा का नहीं है, तब फिर शरीर और स्त्री-पुरुष तो कहाँ से सगे होंगे? प्रभो! तेरा आत्मा, शरीररहित चैतन्यमूर्ति है, उसे जाने बिना कोई तुझे शरणभूत नहीं है। आत्मा का भान होने से अनन्तकाल के अज्ञान का एक क्षण में नाश हो जाता है। जिसप्रकार सूर्य की एक किरण प्रगट होने से ही सारी रात्रि का अंधकार नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार एक क्षणमात्र भी आत्मा को यथार्थ समझ लेने से अनादि के अज्ञान का नाश हो जाता है। अनादि के अज्ञान को नष्ट करने के लिए अनन्तकाल की आवश्यक्ता नहीं होती; परन्तु एक क्षण में ही सच्ची समझ के द्वारा उसका नाश हो जाता है। सच्ची समझ के अतिरिक्त दूसरे अनन्त उपायों से भी कुछ नहीं हो सकता। सच्ची समझ से ही मोक्षमार्ग का अर्थात् धर्म का प्रारम्भ होता है।

'सम्यग्दर्शनज्ञनचारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र–

वह मोक्ष का मार्ग है। उनमें से सम्यग्ज्ञान कैसे होता है–उसकी यह बात चल रही है। ऐसे सम्यग्ज्ञान के बिना कभी भी सम्यक्चारित्र नहीं होता और उसके बिना मुक्ति नहीं होती।

इस अधिकार का नाम 'सद्बोध चन्द्रोदय अधिकार' है। जिस प्रकार चन्द्र का उदय होने से उसकी किरणें अन्धकार को दूर करके प्रकाश फैला देती हैं और ताप दूर करके शान्ति देती हैं; उसी प्रकार आत्मा में सच्चे ज्ञानरूपी चन्द्र का उदय होने से वह अज्ञान अन्धकार को नष्ट करता है और संसार-परिभ्रमण के दाह को मिटाकर आत्मा का सुख-शान्ति प्रगट करता है। इसलिए आत्मा का सच्चा ज्ञान प्रगट करो और अज्ञान को दूर करो–ऐसा आचार्यदेव का उपदेश है।

यदि रुचि करके समझना चाहे तो यह बात समझ में आ सकती है। अनन्तकाल में कभी एक क्षणमात्र भी आत्मा की दरकार नहीं की है। यदि जीव अपने आत्मा की दरकार करके समझने के लिए दो घड़ी यथार्थ प्रयत्न करे तो 'आत्मा क्या है? और उसकी मुक्ति कैसे होती है?' उसका भान हो जाये, और अल्पकाल में मेरी मुक्ति है–ऐसी निःसन्देहता आत्मा में हो जाये। पुण्य और पाप तो जीव ने अनन्तबार किए हैं और उनके फल में स्वर्ग-नरक में भी अनन्तबार गया है। जहाँ गया, वहाँ देह को और पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप माना लिया, परन्तु देह से और पुण्य-पाप से पृथक् अपना आत्मा कौन है?–उसे कभी क्षणमात्र भी नहीं समझा। भाई! आत्मा कौन है? उसे जान ले; यह जानने जैसी बात है।

आत्मा का स्वरूप क्या है? कि जिसे जानने से धर्म होता है; उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा, शरीर से तो पृथक् ही है और क्षणिक पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, उतना भी आत्मा नहीं है। आत्मा स्वयं नित्य है और अनित्य भी है; नित्य-अनित्यरूप आत्मस्वभाव है। मैं दुःख दूर करके सुखी होऊँ, अधर्म दूर करके धर्म करूँ–ऐसी भावना जीव को होती है। यदि आत्मा बदलता ही न हो, बिल्कुल कूटस्थ ही हो तो दुःख दूर करके सुखी नहीं हो सकेगा; और दुःख का नाश करने के साथ ही आत्मा का नाश नहीं करना चाहता, परन्तु दुःख टालकर स्वयं सुखरूप स्थायी रहना चाहता है। यदि आत्मा नित्यस्थायी ध्रुव न हो और क्षणिक ही हो तो दुःखों के साथ ही साथ आत्मा का भी नाश हो जायेगा, और दुःखों को दूर करके सुख का अनुभव करनेवाला कोई नहीं रहेगा; इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा नित्य और अनित्य है, इससे वह वस्तु नित्यस्थायी रहकर बदलती है। ऐसे आत्मस्वभाव को जाने तो अनित्य का आश्रय छोड़कर ध्रुव–नित्य स्वभाव के आश्रय से अज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञानरूपी धर्मा हुए बिना नहीं रहेगा।

जीव को अनादि से अपनी चैतन्यजाति का भान नहीं है, इससे वह शरीर को अपना मानता

है और क्षणिक दयादि की वृत्तियों को अपना स्वरूप मानता है, वह अज्ञान है। सत्समागम से आत्मा का भान करे तो वह अज्ञान दूर हो।

और आत्मा गुरु तथा लघु है। आत्मा वास्तव में पुण्य-पाप का और शरीर का ज्ञाता है और स्वयं स्वाभाविक आनन्दस्वरूप है;–उसे भूलकर अज्ञानी, शरीरादि को अपना मानता है और पर में से आनन्द लेना चाहता है। एक क्षणिक इत्र की सुगन्ध मिल जाये तो वहीं आनन्द मान लेता है। अरे जीव! तेरी वृत्ति कितनी तुच्छ है! और पाप की कितनी गुरुता है। पापभाव हो, वह अपराध है, तथापि तू उसे आनन्द मानता है! जीवों की हिंसा करना, चोरी करना आदि में आनन्द मानता है। अहो! तेरे पाप की कितनी गुरुता है? एकबार एक स्त्री, घी बेचकर, तीन रुपये लेकर घर जा रही थी; मार्ग में उसे चोर मिल गये और उससे रुपये माँगे; वह स्त्री उन तीनों रुपयों को निगल गयी, चोरों ने उसका पेट फाड़कर रुपये निकाल लिए। अहो! देखो, मनुष्य हिंसा करते समय बिलकुल नहीं हिचकिचाता। तीन रुपये के बराबर भी मनुष्य का मूल्य नहीं रहा। कितने नीच परिणाम! इसका नाम है पाप की गुरुता। उस समय साधारण मनुष्य को स्वप्न में भी ऐसा नहीं लगता कि यह जीव आगे चलकर परमात्मा होगा। लेकिन वे क्रूर परिणाम तो क्षणिक हैं, उन्हें बदलकर दूसरे ही क्षण लघुता प्रगट कर सकता है।

क्रूर परिणामी जीवों को भान नहीं रहता कि अरे! मैं कौन हूँ? मेरा चैतन्यस्वरूप क्या है? अरे! इस मनुष्य देह की स्थिति अल्प है, मेरा आत्मा यहाँ से कहाँ जायेगा?–ऐसा उसे बिल्कुल ध्यान नहीं रहता। आचार्यदेव कहते हैं कि–ऐसे क्रूर जीव को अपना परमात्मस्वरूप पहचानना कठिन है। मलिन परिणाम कृत्रिम हैं, उन कृत्रिम परिणामों के समय अन्तर में अकृत्रिम चैतन्यभगवान विराजमान है। उसे समझना जगत को कठिन मालूम होता है। लोग क्षणिक परिणामों को ही देखते हैं परन्तु अन्तर के ध्रुव-पवित्र स्वभाव को नहीं समझते। जिस प्रकार खूँटे से बाँधी हुई भैंस उछल-कूद करती हो तो वहाँ लोग भैंस की और रस्सी की शक्ति देखते हैं; परन्तु वास्तव में वहाँ भैंस का या रस्सी का बल नहीं है; किन्तु भैंस के उछल-कूद करने पर भी वहाँ जो खूँटा गड़ा हुआ है, वह बिल्कुल नहीं हिलता-उसी का सब जोर है। लोग बाह्य क्रिया देखते होने से भैंस के उछलने की शक्ति देखते हैं, परन्तु खूटा हिल-डुले बिना स्थिर है, उसका बल नहीं देखते। उसी प्रकार चिदानन्द भगवान आत्मा की पर्याय में क्षणिक विकार होता है, उसका बल नहीं है, परन्तु क्षणिक विकार होने पर भी ध्रुवरूप आत्मस्वभाव त्रिकाल जैसे का वैसा रहता है, उसकी शक्ति है। चाहे जैसा विकारभाव हो तो वह तो क्षणिक है, दूसरे ही क्षण वह नष्ट हो जाता है, और शाश्वत आत्मस्वभाव है, वह क्षणिक विकार के साथ नष्ट नहीं हो जाता, परन्तु ध्रुव एकरूप स्थिर रहता

है, उसी की महिमा है, और उसी के बल से पर्याय है, और उसी के बल से पर्याय में निर्मलता प्रगट होती है; उस स्वभाव की समझ जगत के जीवों को गहन है। लोग पर्यायबुद्धि से देखानेवाले हैं; वे क्षणिक पर्याय के पुण्य-पाप को ही देखते हैं; परन्तु पुण्य-पापरहित नित्य एकरूप ज्ञायक-स्वभाव है, उसे नहीं देखते।

जो जीव अधिक पापी हैं, उन्हें यहाँ 'गुरु' कहा है। जो अधिक पापवाले हैं, वैसे जीवों को आत्मा की समझ दुर्लभ है; परन्तु उस पाप के बोझ के पीछे चिदानन्द भगवान पड़ा हुआ है, उसका भान करके मिथ्यात्वादि पापों का नाश किया है, वे जीव पाप में हलके अर्थात् 'लघु' हैं। अन्तर में आत्मा की समझ करके उसमें एकाग्र होने से केवलज्ञान होता है। ऐसे आत्मा को समझ लेना भी जगत के जीवों को दुर्लभ है, और समझे बिना धर्म की दशा तो कहाँ से प्रगट होगी? सतसमागम से चैतन्य को समझ लेना ही धर्म का उपाय है।

जिसप्रकार अग्नि का स्वभाव उष्ण है और पानी का ठण्डा। पानी गरम हुआ, उस समय भी उसमें शीतल स्वभाव भरा हुआ है। वह शीतल स्वभाव आँख से या हाथ से ज्ञात नहीं होता, परन्तु ज्ञान से ही उसका निर्णय होता है। उसी प्रकार इस आत्मा का परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है, पर्याय में क्षणिक विकार होने पर भी उस समय मूल अविकारी स्वभाव नष्ट नहीं हो गया है, निर्मल ज्ञानस्वभाव इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता, परन्तु अन्तर में स्वभाव का ज्ञान करे कि—मैं तो सबको जानता हूँ और शरीर कुछ नहीं जानता; राग, राग को नहीं जानता; राग का भी मैं ज्ञाता हूँ, इसलिए मैं ज्ञाता ही हूँ। इस प्रकार स्वभाव की दृष्टि से समझे तभी आत्मा का स्वभाव ज्ञात हो।

छूने से फोले पड़ जाये—इतना गरम हो, तब भी पानी में अग्नि को बुझा देने का स्वभाव है। अग्नि को बुझाने के अपने स्वभाव को स्थायी रखकर पानी गरम हुआ है। जिस अग्नि के निमित्त से पानी गरम हुआ है, उसी अग्नि पर उसे ढ़ोल दिया जाये तो वह अग्नि को बुझा देता है। उसी प्रकार यह शांत-मूर्ति चैतन्यस्वभावी आत्मा अनादिकाल से अज्ञानभाव में जला हुआ है, और आकुलता में तप्त हो रहा है, परन्तु इसका स्वभाव शीतल-शान्त है। विकार के समय भी विकार को नाश करने का स्वभाव है। यदि एक क्षण भी उस ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करे तो वह अनादिकालीन विकार का नाश कर देता है। ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि करना ही संवर-निर्जरारूप धर्म है।

आत्मा अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होने से विकार की उत्पत्ति नहीं होती, और कर्मों का नाश स्वयं हो जाता है; वहाँ आत्मा ने विकार का नाश किया और आत्मा ने कर्मों का नाश किया—ऐसा उपचार से कहा जाता है। 'लेगस्स' स्तुति में आता है कि 'विहुयरण्मला' अर्थात् हे भगवान! आपने रज और मल को धो डाला है। रज का अर्थ है कर्मों की सूक्ष्म धूल, और मल

का अर्थ है राग-द्वेष-अज्ञान। आत्मा के भान द्वारा भगवान ने उन रज ओर मल – दोनों को धो डाला है – अर्थात् भगवान ने उनका नाश हो गया है।

हे भाई ! तेरे आत्मा की अत्यन्त गहनता है। यदि सच्चा समझने का प्रयत्न न करे तो अपनी गहनता की महिमा तू कैसे समझ सकेगा? तू अपने आत्मा की सच्ची समझ की बात न पूछे और दूसरी इधर-उधर की बातें पूछता रहे तो तुझे अपना स्वरूप कैसे समझ में आयेगा? यदि सत्समागम से परिचय करके आत्मा को समझे तो तुझे पुण्य-पाप की गुरुता दूर होकर केवलज्ञानरूपी लघुता प्रगट हो।

अनादिकाल से स्वयं अपने स्वभाव को भूला है, और उस भूल के कारण ही परिभ्रमण कर रहा है; परन्तु अज्ञानी जीव अपनी भूल को नहीं पहचानते और कर्मों को दोष देते हैं। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त आता है–एक बन्दर ने बेर लेने के लिए मटकी में हाथ डाला और मुट्ठी भरकर हाथ बाहर खींचने लगा; परन्तु मुट्ठी बन्धी थी और मटकी का मुँह छोटा था; इसलिए हाथ बाहर नहीं निकला। बन्दर ने सोचा कि 'मेरा हाथ भूत ने पकड़ लिया है'–ऐसा समझकर वह रोने चिल्लाने लगा। स्वयं मुट्ठी बाँध रखी है, इससे पकड़ावा है, भूत ने नहीं पकड़ा; परन्तु स्वयं मुट्ठी बाँधी है, उसका भान नहीं है, इससे यह मान रहा है कि भूत ने पकड़ा है। यदि अपनी मुट्ठी छोड़ दे तो छूटा ही है। उसी प्रकार इस अज्ञानी जीव ने 'शरीर मेरा, मकान मेरा, धन मेरा' इस प्रकार ममत्व में जकड़ा हुआ है; लेकिन स्वयं अपने स्वभाव को भूलकर ममत्व की पकड़ में जकड़ा हुआ–ऐसा न समझने से, अज्ञान से ऐसा मानता है कि मुझे किसी दूसरे ने पकड़ा है; दूसरा मुझे सुख-दुःख करता है। यदि स्वभाव की यथार्थ पहचान करके पर के ममत्व की पकड़ छोड़ दे तो संसार दूर होकर मुक्ति हो जाये। लेकिन दूसरे ने मुझे पकड़ा है–ऐसा माने तो कभी मुक्ति नहीं होती।

और हे जीव ! तेरा तत्त्व एक है और अनेक भी है। 'जगत में सभी मिलकर एक आत्मा है'–ऐसा न समझना, परन्तु प्रत्येक आत्मा अपने अनन्त गुण-पर्यायों से अभेदरूप होने से 'एक' है। इस जगत में अनन्त जीव-अनन्त आत्मा हैं; वे प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा की जाति के रूप में सब समान हैं, परन्तु संख्या से सब भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक आत्मा में स्वभाव से एकत्व-अनेकत्व है। प्रत्येक आत्मा में पदार्थरूप में 'एकत्व' है; उसमें अनन्त गुण होने पर भी पदार्थ के अनन्त भाग नहीं होते, इससे पदार्थरूप से एक है; और ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य, अस्तित्व आदि अनेक गुण होने से, तथा भिन्न-भिन्न अनेक पर्यायें होने से, गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेकत्व भी है।

नवतत्त्वों में पहला जीवतत्त्व है, उसकी यह बात चलती है। सभी आत्मा इसी स्वरूप से हैं। वस्तुरूप से आत्मा नित्य स्थायी रहता है, और पर्याय की अपेक्षा से प्रतिक्षण बदलता भी है। और वही आत्मा मिथ्यात्वादि पापों के भार से 'गुरु' कहलता है तथा सच्चा ज्ञान करने से वह हलका 'लघु' होता है। वही आत्मा वस्तुरूप से एक है और ज्ञानादि शक्तियों तथा दशाओं से अनेक है। आत्मस्वभाव की ऐसी गहन महिमा है; ऐसे आत्मा को जाने बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता। जिसे सच्चा ज्ञान नहीं होता, उसे सम्यक्दर्शन के बिना व्रत, तप अथवा चारित्र नहीं होते; इसलिए सर्वप्रथम सत्समागम से श्रवण-मनन करके आत्मा का यथार्थ भान करना चाहिए।

यह 'सद्बोध चन्द्रोदय' अधिकार है। अनादि का अज्ञान दूर होकर आत्मा में सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्र प्रगट हो, उसका नाम 'सद्बोध चन्द्रोदय' है। जिस प्रकार दोज उगने के पश्चात् वह क्रमशः बढ़कर पूर्णिमा होती है; उसी प्रकार आत्मा में चौथे गुणस्थान में सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्र उदित हुआ, वह क्रमशः बढ़कर पूर्ण केवलज्ञान होता है। आत्मा का सच्चा ज्ञान करना, उसे सद्बोधचन्द्र कहते हैं, और पश्चात् क्रमशः आगे बढ़ने पर राग-द्वेष दूर होकर पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है, तब उस आत्मा को परमात्मा कहा जाता है। प्रथम आत्मा की यथार्थ पहचान करना ही परमात्मा होने का उपाय है।

धर्म कैसे हो?

[पूज्य स्वामीजी का व्याख्यान]

यह जीव जिस समय धर्म करे, उसी समय उसे सुख-शान्ति होती है। धर्म और सुख कहीं अलग नहीं हैं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, उसका जीव ने एक क्षणमात्र भी भान नहीं किया है। धर्म का अर्थ क्या है? आत्मा पदार्थ है; और उसका स्वभाव ज्ञान अर्थात् जानना और आनन्द है। उसके स्वभाव में विकार या दुःख नहीं है, परन्तु स्वयं अपने स्वभाव को भूलकर पर में ममत्वभाव और राग-द्वेष नवीन-नवीन उत्पन्न करता है, वह दुःख है। पदार्थ स्वयं स्वभाव से विकृत या दुःखरूप नहीं हो सकता, परन्तु अपने वास्तविक स्वभाव का अज्ञान होने से उसकी अवस्था में विकृति और दुःख होते हैं। सोने में जो ताँबा है, वह सोने का मूल स्वभाव नहीं है, इससे दूर हो सकता है; उसी प्रकार यह चैतन्यरूप आत्मपदार्थ शरीर-वाणी-कर्म से तो त्रिकाल भिन्न है, परन्तु जो राग-द्वेष होता है, वह उसका स्वभाव नहीं है, परन्तु अवस्था में होता है; और वह विकृति है। शरीर का जो भाग बिगड़ा होता है, उसी का डॉक्टर ऑपरेशन करता है, क्योंकि वह खराब भाग शरीर के मूल स्वभाव में नहीं है; उसी प्रकार विकारभाव जीव के मूल स्वभाव में नहीं है, इससे अपने चैतन्यरूप मूल निर्विकार स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-आचरण द्वारा यह विकारभाव दूर होता है। जिसप्रकार बाँस में अग्नि प्रगट होने का स्वभाव है, इससे उसमें से अग्नि प्रगट होकर जंगल को जला देती है, उसी प्रकार आत्मा का चैतन्यस्वभाव है, वह पुण्य-पाप को जला देनेवाला है। पुण्य-पाप मेरा स्वभाव नहीं है; मेरा स्वभाव तो पुण्य-पाप रहित चैतन्यमय है—इस प्रकार अपने परब्रह्म आत्मा को जाने; कर्म से पृथक् और पुण्य-पापरहित एकरूप अपना स्वभाव है—ऐसे आत्मा को जाने तो धर्म हो। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार धर्म नहीं होता।

आत्मा पर का कुछ कर ही नहीं सकता, पर का करने का भाव करता है, परन्तु उससे कहीं पर का कुछ करता ही नहीं; मात्र अपने राग के लिए करता है। निर्धन मनुष्य वास्तव में धनिक का गुणगान नहीं करता, परन्तु अपने को धन की रुचि है, उस रुचि के गीत गाता है; क्योंकि जिसे धन की रुचि नहीं है, वह धनिकों के गीत नहीं गाता। संसार में जिसे पर की भावना है, वह भिखमंगा है। जो अधिक माँगता है, वह बड़ा भिखारी और जो कम माँगता है, वह छोटा भिखारी। जो पर के पास कुछ न माँगे, परन्तु अनन्त गुणसम्पन्न अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा की रुचि करे और उसमें एकाग्र हो, वह महान सम्राट है। आचार्य भगवान तो कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान और

आनन्द से परिपूर्ण है, उसकी जिसे खबर नहीं, वह पर में से सुख लेना चाहता है – इससे वह भिखारी है।

जिसे ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की रुचि नहीं है,उसे आत्मा के अतिरिक्त पर की रुचि होती है। धर्मी को आत्मा का भान होने के पश्चात् राग हो, पुण्य-पाप हों, परन्तु धर्मी की दृष्टि में उनकी रुचि नहीं होती। 'वह सब विकार है और मैं निर्विकार ज्ञानानन्द हूँ'–ऐसा भान उसे निरन्तर वर्तता है। धर्मी को रुचिपूर्वक विकार नहीं है, परन्तु पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण आसक्ति होती है।

ताँबा सोने का मूल स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार भगवान आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप हैं, वे ताँबे के समान होने से मूल स्वभाव नहीं हैं। यहाँ सभी आत्माओं को भगवान कहा जाता है।

सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान में आत्मा की जो महिमा देखी, वह वाणी में पूरी न आ सकी। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कहते हैं–

'जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो!'

ऐसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार घी का स्वाद ध्यान में होता है, परन्तु वाणी द्वारा उसका पूर्णतया वर्णन नहीं हो सकता; उसी प्रकार आत्मा का चिदानन्दस्वभाव है, उसकी अवस्था में जो क्रोधादि हों, उन पर धर्मी की दृष्टि नहीं है। मैं चिदानन्द हूँ–ऐसा दृष्टि उनके निरन्तर वर्तती है। ऐसा भान होने के पश्चात् स्वरूप में स्थित होने से परमात्मदशा और सर्वज्ञपद होते हैं। उनके ज्ञान में आत्मा की पूर्ण महिमा भासित हुई है, किन्तु वाणी का योग उसे पूर्णतया नहीं कह सकता। जिस प्रकार कालीमिर्च और लालमिर्च की चरपराहट के स्वाद का अन्तर वाणी से सन्तोषकारक रीति से नहीं कहा जा सकता; उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप अमोलक आत्मभगवान का वर्णन वाणी से कैसे हो सकता है? अँगुली द्वारा इशारे से दोज चन्द्र का लक्ष्य कराया जाता है, उसी प्रकार वाणी से मात्र इशारा होता है; परन्तु स्वयं ज्ञान के लक्ष्य में ले ले तो यथार्थ समझ में आता है।

भगवान आत्मा, पुण्य-पाप रहित है, उसका भान होना सम्यक्दर्शन है और उसमें लीन होने से सर्वज्ञपद प्रगट होता है, वह परमात्मदशा है। ऐसे परमात्मा की सहज वाणी में भी जिसके स्वभाव की महिमा का पार न आये, ऐसे आत्मा की महिमा को जिसने नहीं जाना, उस जीव को परवस्तु की रुचि होने से वह पर को माँगता है, वही बड़ा भिखारी है। और भान होने के पश्चात्

भी जितने अंश में पर की आसक्ति है, उतने अंश में वह भी भिखारी वर्ग में आता है; तथापि ज्ञानी जानते हैं कि पर को प्राप्त करने के लिए यह इच्छा निरर्थक है, और स्वभाव की प्राप्ति के लिए भी निरर्थक है। इस प्रकार इच्छा होने पर भी ज्ञानी उसे निरर्थक जानते हैं; इससे उनके इच्छा का बल नहीं है। इच्छा से शरीर का रोग नहीं मिटता, इच्छा से लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती, इच्छा द्वारा अनुकूलता की प्राप्ति अथवा प्रतिकूलता का अभाव नहीं होता और उस इच्छा द्वारा ज्ञानानन्दस्वभाव की प्राप्ति नहीं होती—ऐसी इच्छा की निरर्थकता यथार्थतया जाने तो इच्छारहित आत्मा का भान हो। प्रथम तो सत्समागम से ऐसे आत्मा को जानना चाहिए। श्री राजचन्द्रजी कहते हैं कि 'पावे नहीं गुरुगम बिना, ऐही अनादि स्थित!'

अनन्तकाल में सत्समागम से आत्मा का विश्वास नहीं आया है। भगवान आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुण हैं; उसमें ज्ञान-दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह तीन गुण हैं। इच्छा, चारित्रगुण की विपरीत दशा है; वह इच्छा होने पर भी, यह मेरा स्वरूप नहीं है—इस प्रकार आत्मा को जानकर श्रद्धा करे तो उस श्रद्धागुण ने आत्मा को कल्याण के मार्ग पर लगा दिया है। इच्छा होने पर भी धर्मी ने दृष्टि में – श्रद्धा में आत्मा को शुद्धरूप से स्थित किया है, उसी का नाम धर्म है। विकार होने पर भी ज्ञानी को विकार की रुचि नहीं है; उनकी दृष्टि में तो शुद्धस्वभाव का ही आदर वर्त रहा है।

जिस प्रकार पानी में उष्णता होने पर भी उसका स्वभाव शीतल है—ऐसा विश्वास होने से उसे शीतल करने का प्रयत्न होता है; उसी प्रकार अवस्था में पुण्य-पापरूप विकार है, तथापि उस रहित स्वभाव तो शुद्ध ज्ञानानन्द है—ऐसे भानपूर्वक विकार दूर होता है। प्रथम तो ऐसे स्वभाव का भान होना, वह सम्यग्दर्शन है। विकार होने पर भी आत्मा ने शुद्धस्वभाव को स्वीकार किया, तभी से धर्म का प्रारम्भ होता है; दया-भक्ति आदि शुभभाव होने पर भी उन पर धर्मी की दृष्टि नहीं है। वह तो परब्रह्म ज्ञानानन्द आत्मा को ही जानता है। अनन्त सर्वज्ञ परमात्मा हो गये हैं—उन्हीं की पंक्ति में मैं बैठनेवाला हूँ; उनकी और मेरी एक ही जाति है—ऐसा धर्मात्मा को भान होता है।

जड़ पदार्थों से और पुण्य-पाप के विकार से आत्मा पृथक् है; ज्ञानानन्द उसका स्वभाव है—ऐसा प्रथम विश्वास जागृत हो, तब से धर्म का प्रारम्भ होता है। निचलीदशा में भले ही ज्ञानी पुण्य-पाप को दूर करके स्व में स्थिर न हो सके, परन्तु अन्तर में तो वह पुण्य-पाप को अपना स्वभाव नहीं मानता। ऐसा भान जीव ने अनन्तकाल में भी नहीं किया है।

पानी का स्वभाव ठण्डा है, अग्नि को बुझा देने का उसका स्वभाव है। स्वयं जिस अग्नि के निमित्त से गर्म हुआ, उसी अग्नि का नाश करने की शक्ति रखकर उष्ण हुआ है; उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव शीतलीभूत चैतन्यरूप है; पुण्य-पापरूप कषाय-अग्नि को नाश करने का

उसका स्वभाव है। अनादि से आत्मा भले ही पुण्य-पाप के विकार को करना आये, परन्तु पुण्य-पाप के विकारों को नाश करने का उसका स्वभाव कभी मिटा नहीं है। वैसे स्वभाव का सत्समागम द्वारा जीवों ने यथार्थ विश्वास नहीं किया है। 'विश्वास से नौका तरती है'—उसी प्रकार मैं ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप हूँ, जो पुण्य-पाप होते हैं, उनका नाशक हूँ—ऐसा विश्वास जीव करे तो मुक्ति हुए बिना न रहे। जैसे—किसी पहाड़ पर बिजली गिरे और उसके दो टुकड़े हो जायें, तो फिर वे कभी नहीं जुड़ सकते; उसी प्रकार एक बार चैतन्यस्वभाव का भान हो, ग्रन्थिभेद हो तो फिर वह चार गतियों में परिभ्रमण न करे।

पात्रतापूर्वक सत्समागम से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहचानना चाहिए। दिव्य शक्ति प्रगट हुई, वह देव; उस स्वरूप के साधक, वे गुरु; और देव-गुरु के अनेकान्तस्वभाव को बतलनेवाली वाणी, वह शास्त्र। वे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं? वह जानना चाहिए। जिस प्रकार जवाहरात के खरीददार घर-घर नहीं होते और न गली-गली में उनकी दुकानें होती हैं; लेकिन साग-भाजी की आवश्यक्ता घर-घर प्रतिदिन होती है और जगह-जगह उसकी दुकानें होती हैं, लोग सिर पर रखकर बेचने भी आते हैं। उसी प्रकार आत्मा का पवित्र ज्ञानानन्दस्वभाव है; उसे लेनेवाले भी लाखों में एक ही निकलते हैं और वह मिलता भी बड़ी कठिनाई से है। सच्चे तत्त्व की बात कहनेवाले कम और उसे समझनेवाले भी कम ही होते हैं। पुण्य से धर्म होने की बात कहनेवाले भी बहुत होते हैं और उसे माननेवाले लोग भी जगत में तीनोंकाल बहुत मिलते हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि 'यह आत्मा की बात तू समझ!'—ऐसा कहने से स्पष्ट हो जाता है कि—जीव स्वयं मिथ्या समझा है, अपने से भिन्न कहीं पर में अपना अस्तित्व माना है, इसलिए जगत में परवस्तु भी है। यानी जड़ है और आत्मा भी है। उसमें ना समझ है, उसे दूर करने और सत् समझने की शक्ति है। जीव स्थायी रहकर बदलता है। मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र बदलकर सम्यक् हो सकते हैं; भूल है और उसके निमित्त भी जगत में हैं। भूल को दूर करने से सत्य समझ में आता है, सत्य समझने में सत् देव-गुरु-शास्त्र निमित्त होते हैं। वे सत् निमित्त कौन हैं?—उसे समझना पड़ेगा। सत् को समझते नहीं हैं और ऊँट वैद्य की भाँति अज्ञानी जहाँ-तहाँ धर्म मनवाते हैं।

एक बार एक ऊँट के गले में खाते-खाते डंठल फँस गया, एक वैद्य ने जोर से लात मारी और वह निकलकर पेट में पहुँच गया। एकबार एक मनुष्य के गले में कण्ठमाल नाम का रोग हो गया, तो वहाँ भी उस वैद्य ने लात मारने की दवा बतलायी। उसी प्रकार अज्ञानी सत् समझे बिना पुण्य में धर्म मनवाते हैं। अनन्तकाल से न प्रगट हुआ स्वभाव भी जब जीव प्रगट करना चाहे, तब हो सकता है।

एक बार एक राजा ने अपने वैद्य कर प्रसन्न होकर कहा–जो माँगना हो माँग लो! वैद्य ने कहा–'शहर में जितने वैद्य हों, उन पर एक रुपया वार्षिक कर लगा दीजिए और वह सब रुपया मुझे मिलना चाहिए;' और फिर वह वैद्य ढ़ोंग बनाकर अपने रोग के लिए जो मिलता, उसी से दवा पूछने लगा। हर आदमी कुछ न कुछ दवा बतलाने लगा। वैद्य ने सबके नाम लिख लिए और राजा के पास जाकर पेश कर दिये; सबके ऊपर एक-एक रुपया कर लगाने को भी कहा। इससे सब लोग घबरा गये और वैद्यों की उस लिस्ट में से अपना नाम काटने लगे। उसी प्रकार जगत में आत्मा को समझे बिना सब धर्म की बातें करते हैं, परन्तु आत्मा को समझनेवाले लाखों-करोड़ों में कोई विरले ही होते हैं।

जो समझता है, वह अपनी स्वतन्त्रता से समझता है। पर के कारण समझता हों तो फिर कोई उलटा भी समझा दे; परन्तु वैसा नहीं होता।

आत्मा के स्वभाव को कर्म से भिन्न और अपने से एकरूप जानकर क्रमशः उस विकार को दूर करके अपने स्वरूप में तन्मय होता है, वह वीतराग होकर मुक्त होता है। इस विधि से आत्मा को जाने, तभी धर्म होता है; अन्य प्रकार से धर्म नहीं होता।

सौराष्ट्र के पाटनगर में श्री पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव और

जिनेन्द्र शासन का जयकार

वर्तमान में सौराष्ट्र देश में श्री जिनेन्द्रशासन की प्रभावना का महान् सुअवसर प्रवर्त रहा है। परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी अपनी भगवती वाणी द्वारा आध्यात्मिक उपदेश देकर सौराष्ट्र में श्रुतगंगा प्रवाहित कर रहे हैं, और अपना गूढ़ आध्यात्मिक ज्ञान भव्य जीवों को दे रहे हैं। इससे आज सौराष्ट्र में जगह-जगह तत्त्वचर्चा चल रही है, और अनेक पात्र जीव यथार्थ तत्त्वज्ञान को समझ रहे है। ज्यों-ज्यों लोग सच्चा तत्त्वज्ञान समझते जाते हैं, वैसे ही वैसे श्री वीतराग-शासन के देव-गुरु-शास्त्र के प्रति उन्हें बहुमान और भक्ति जागृत होती जा रही है, तथा श्री वीतरागी देव-

गुरु-शास्त्र की प्रभावना दिन-दिन बढ़ रही है। इसके परिणामस्वरूप सौराष्ट्र में अनेक स्थलों पर श्री वीतरागी जिनबिम्बों की स्थापना हुई है। इस प्रकार सौराष्ट्र देश में श्री जिनेन्द्रशासन का जयनाद गूँज रहा है। सौराष्ट्र के पाटन राजकोट में फाल्गुन शुक्ला १२ के शुभ दिन भगवान श्री सीमन्धरादि जिनदेव के वीतरागी जिनबिम्बों की स्थापना का पंचकल्याणक महोत्सव था। इस महा मंगल प्रसंग पर फाल्गुन शुक्ला एकम के दिन पूज्य श्री कानजी स्वामी राजकोट पधारे थे। उस समय समस्त मुमुक्षु संघ ने स्वामीजी का भव्य स्वागत किया था। पूज्य स्वामीजी मण्डप में पधारे, उस समय सेठ श्री नानालाल भाई आदि ने अपनी खास भक्ति व्यक्त की थी।

फाल्गुन शुक्ला एकम से प्रतिष्ठा-विधान का प्रारम्भ हुआ था। इस महान् प्रतिष्ठा प्रसंग में अनेक स्थानों के जिनबिम्ब थे। अहो! जिनेन्द्र भगवन्तों के समूह सौराष्ट्र में उतरे थे। कुल मिलाकर ३९ प्रतिमाएँ थीं। इस प्रतिष्ठा में मूलनायक के रूप में भगवान श्री सीमन्धर भगवान थे; और पंचकल्याणक में विधिनायक के रूप में श्री चन्द्रप्रभ भगवान थे। महत्वशाली अंकन्यास विधि (जो विधि होने के बाद प्रतिमाएँ पूज्य बनती हैं) परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के शुभहस्त से हुई थी। प्रतिष्ठा करानेवालों में मुख्य सेठ श्री नानालालभाई और अन्य मुमुक्षु गृहस्थ थे। प्रतिष्ठाविधि कराने के लिए इन्दौर से प्रतिष्ठाचार्य पण्डित मुन्नालालजी पधारे थे। उन्होंने शास्त्रविधि अनुसार प्रतिष्ठाविधि करायी थी। देश-देश के मुमुक्षुजनों ने उत्साहपूर्वक इस अमूल्य अवसर को दीप्त किया था। अजमेर की भजनमण्डली ने तो अपनी भक्ति द्वारा इस उत्सव को और भी अधिक शोभायमान बना दिया था। प्रतिष्ठाविधि के समय रखे गये कार्यक्रम का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया गया है।

फाल्गुन सुदी एकम् के दिन प्रातःकाल श्रीमण्डप में भगवान को विराजमान किया; और सवा लाख मन्त्रों का जाप प्रारम्भ हुआ।

फाल्गुन सुदी दोज के दिन सोनगढ़ में विराजमान श्री सीमन्धर भगवान की प्रतिष्ठा का वार्षिक उत्सव था; इसलिए ज्ञानपूजा हुई थी। फाल्गुन सुदी तीज से श्री नन्दीश्वरमण्डप विधान प्रारम्भ हुआ था और वह फाल्गुन सुदी ६ तक चला था।

फाल्गुन सुदी चौथ के दिन मृत्तिकानयन तथा अंकुरारोपण विधि हुई थी।

फाल्गुन सुदी पंचमी के दिन दोपहर को नन्दीविधान हुआ था। इस प्रसंग पर जिससमय सौधर्म आदि इन्द्रों को पूज्य गुरुदेवश्री के हस्त से मुकुट बँधाये और शुभ आशीर्वाद दिलाया, उस समय प्रतिष्ठाचार्य पं. मुन्नालालजी ने पूज्य स्वामीजी के प्रति अपना उल्लास व्यक्त किया था। उस समय उन्होंने कहा था कि–'आप श्री जैसा प्रभावशाली पुरुष बहुत वर्षों में हुआ हो –ऐसा मेरे

ख्याल में नहीं है। लोग पूछा करते हैं कि आत्मा का भान कैसे हो, आत्मा का ध्यान कैसे हो? मैं उनसे दृढ़तापूर्वक कहता हूँ, कि यदि तुम्हें आत्मा का ज्ञान और ध्यान करना हो तो अपना मुख सोनगढ़ के सन्मुख फरेना पड़ेगा...!'

फाल्गुन सुदी ६ के दिन मन्दिर, वेदी, ध्वजदण्ड तथा कलश की शुद्धि हुई थी। जिनमन्दिर में प्रथम इन्द्र-इन्द्राणी तथा देवियों ने वेदी शुद्धि की; फिर जिससमय पूज्य पवित्र बहनों के शुभहस्त से वेदीशुद्धि हुई, उस समय उन पवित्र आत्माओं द्वारा होनेवाली पवित्रधाम की शुद्धि के उल्लास में श्री मन्दिरजी का वातावरण गुंजित हो उठा था।

फाल्गुन सुदी ७ के दिन प्रातःकाल आचार्य निमंत्रण हुआ, तथा इन्द्राभिषेक और इन्द्रप्रतिष्ठा हुई। उसके बाद इन्द्रों का भव्य जलूस निकला। दोपहर को नन्दीश्वर विधान पूर्ण होकर श्री जिनेन्द्र अभिषेक हुआ।

फाल्गुन सुदी ८ के दिन यागमण्डल विधान हुआ, और रात्रि को श्री चन्द्रप्रभ भगवान के गर्भकल्याणक की पूर्वक्रिया का दृश्य हुआ था। उसमें प्रभुजी माता के गर्भ में आने के पूर्व छह महीने तक रत्नवर्षा और देवियों द्वारा माता की सेवा आदि के दृश्य थे।

फाल्गुन सुदी ९ के दिन सवेरे गर्भकल्याणक का दृश्य था। उसमें माताजी को सोलह स्वप्न आते हैं; दिग्कुमारी देवियाँ माताजी की सेवा करती हैं, माताजी से तत्त्व सम्बन्धी प्रश्न पूछती हैं और माताजी उनके विद्वत्तापूर्ण उत्तर देती हैं।

जन्म-कल्याणक -महोत्सव

फाल्गुन सुदी १० के दिन सवेरे ७ से १२ तक जन्मकल्याणक महोत्सव हुआ था। यह प्रसंग अत्यन्त उत्साहपूर्वक भव्य रीति से मनाया गया था। लक्ष्मणा देवी माता की कूख से भगवान श्री चन्द्रप्रभ स्वामी का जन्म होता है; देवियाँ भगवान के जन्म की बधाई देती हैं, मंगलगीत गाती हैं और चारों और मंगलनाद गूँज उठता है। प्रभुजन्म के उत्साह में देवांगनाएँ नृत्य करती हैं। इन्द्र-इन्द्राणी जन्मोत्सव करने आते हैं, और बाल भगवान चन्द्रप्रभ को मेरु पर्वत पर ले जाते हैं। जन्माभिषेक करने के लिए भगवान को मेरु पर्वत पर ले जाने के समय सुन्दर हाथी पर बाल प्रभुजी विराजमान थे, चारों और इन्द्र-इन्द्राणी भक्ति कर रहे थे और साथ में हजारों मुमुक्षुओं का संघ आनन्द से पाण्डुक शिला की ओर जा रहा था।

इस प्रसंग पर अजमेर की भजनमण्डली ने प्रभुजी के सन्मुख भक्ति और नृत्य द्वारा सारे शहर में श्री जिनेन्द्र जन्म-कल्याणक की महिमा फैला दी थी। ज्युबिली बाग में एक ऊँचे मेरु पर्वत की रचना की गई थी। भगवान को मेरु पर्वत पर विराजमान करके इन्द्रों ने जन्माभिषेक प्रारम्भ किया।

अभिषेक करने के लिए भक्तों के समूह उल्लसित हो रहे थे, उस समय का दृश्य देखते ही बनता था। भगवान के आत्मा ने जन्म पूरे कर लिए हैं, अब इन्हें पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेना है। यह एक अन्तिम जन्म था, इसे पूर्ण करके भगवान जन्मरहित हो गये। अपूर्व आत्मदर्शन के प्रताप से उनके जन्म-मरण का अन्त आ गया। ऐसे भगवान के भवरहितपने का यह महोत्सव मनाया जा रहा है। जन्माभिषेक के बाद इन्द्राणी ने बालप्रभु की वस्त्रालंकार पहनाए और रथयात्रा लौटी।

दोपहर को १ से २ तक भगवान श्री चन्द्रकुंवर का पालना झुलाने की विधि हुई थी। माताजी और देवियाँ भक्तिपूर्वक भगवान को झुला रही थीं। सोने-चाँदी के पालने में झूलते हुए भगवान को देखने से ऐसा लगता था कि अहो! इस पालने में झूलते हुए बालक का आत्मा ज्ञानी है; यह बड़ा होकर मुनि होगा और आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते संसार से मुक्त होगा।

रात्रि को युवराज श्री चन्द्रप्रभकुमार का राज्याभिषेक हुआ। इन्द्रों ने राज्याभिषेक किया और महासेन महाराज ने अपना राजमुकुट उतारकर श्री चन्द्रप्रभकुमार को पहनाया। पश्चात् महाराज श्री चन्द्रकुमार का राजदरबार लगा; दरबार में देश-देशान्तर से राजा-महाराजा आये थे और उत्तम-उत्तम वस्तुएँ लाकर भेंट रखते थे।

दीक्षा-कल्याणक -महोत्सव

फाल्गुन सुदी ग्यारह के दिन भगवान के वैराग्य उत्सव था। भगवान को वैराग्य होने से अन्तर में बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हैं। भगवान के वैराग्य की खबर पड़ते ही लौकान्तिक देव आकर उनकी स्तुति करते हैं, और उनके वैराग्य की पुष्टि करते हैं कि अहो! वैराग्यमूर्ति भगवन! इस भव, तन और भोग को अनित्य जानकर आत्मा के चिदानन्दस्वभाव में पूर्णतया समा जाने के लिए आप जो पवित्र भावना भा रहे हैं, उसे शीघ्र अमल में लाइये!... भगवती जिनदीक्षा धारण करके अप्रमत्त और प्रमत्त भाव में झूलती हुई पवित्रदशा प्रगट कीजिए.... और अप्रतिहत भाव से केवलज्ञान प्रगट करके दिव्यध्वनि द्वारा जगत के भव्यजीवों के लिए मोक्षमार्ग का द्वार खोलिये!....इत्यादि।

पश्चात् दीक्षा कल्याणक मनाने के लिए इन्द्र पालकी लेकर आते हैं और वैराग्य की साक्षात् मूर्ति भगवान चन्द्रप्रभ दीक्षा लेने के लिए तपोवन में जा रहे हैं। (तपोवन और दीक्षा का दृश्य राजमहल के चौगान में हुआ था।) भगवान दीक्षा लेने के लिए तपोवन में जा रहे थे, उस समय की दीक्षा-यात्रा की रथयात्रा का दृश्य अत्यन्त भावनामय था। भगवान के साथ-साथ वैराग्यभावना में मग्न हुए भक्तजन तप कल्याण का स्तवन गाते जा रहे थे–

वंदों-वंदों परम विरागी त्यागी जिनने रे!
थाये जिन दिगम्बर मुद्राधारी देव...
श्री चन्द्रप्रभुजी तपोवन मां संचरे रे....!

दीक्षा वन में जाकर प्रभुजी एक वृक्ष के नीचे विराजमान हुए; थोड़ी देर में वस्त्र त्याग किया और नग्न जिनमुद्रा धारण की। पूज्य गुरुदेव श्री ने भगवान का केशलोंच किया। दीक्षा के बाद भगवान आत्माध्यान में लीन हुए और तुरन्त ही मनः-पर्ययज्ञान प्रगट हुआ। फिर मुनिराज तो वन में विहार कर गये....

भगवान की दीक्षाविधि पूरी होने के बाद वहाँ दीक्षावन में ही पूज्य गुरुदेवश्री ने दीक्षाकल्याणक प्रसंग का सुन्दर प्रवचन किया था। इस प्रवचन में वैराग्यभावना का खूब मंथन किया था।

व्याख्यान के बाद तपोवन में ही भाई श्री धीरजलाल नाथालाल भाई तथा उनकी पत्नी मरघाबेन ने आजन्म ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार करके इस वैराग्य प्रसंग को दीप्त किया था।

इस प्रकार भगवान की दीक्षा कल्याणक विधि हुई थी।

दोपहर को लगभग ११ बजे प्रभु श्री चन्द्रप्रभ मुनिराज आहार लेने के लिए शहर में पधारे। भगवान को प्रथम आहारदान का महामंगल प्रंसग सेठ श्री नानालाल भाई के यहाँ हुआ था।

अंकन्यास विधि

दोपहर को २ बजे श्री जिनप्रतिमाओं पर अंकन्यास विधि करने के लिए पूज्य गुरुदेव श्री पधारे और महा पवित्र जिनप्रतिमाओं पर महा पवित्र भाव से, पवित्र हस्त से अंकन्यास विधि की। अंकन्यास विधि के पश्चात् ही प्रतिमाएँ पूज्य होती हैं। यह अंकन्यास विधि प्रतिष्ठाविधान में अत्यन्त महत्व की है। अंकन्यास विधि के बाद सर्व प्रतिमाओंजी पर नेत्रोन्मीलन विधि भी पूज्य स्वामीजी ने की थी।

केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव

फाल्गुन सुदी १२ के प्रातःकाल पहले केवलज्ञान कल्याणक उत्सव हुआ था। प्रभुजी क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर कर्मक्षय करके केवलज्ञान प्रगट करते हैं और इन्द्र आकर समवशरण की रचना करते हैं तथा भगवान की पूजा करते हैं। इस प्रसंग पर समवशरण की सुन्दर रचना हुई थी। समवशरण में भगवान की दिव्यध्वनिरूप प्रवचन फाल्गुन सुदी ११ के दिन पूज्य गुरुदेव ने किया था।

निर्वाण कल्याणक महोत्सव

पश्चात्-कुछ काल तक विहार करके प्रभु श्री सम्मेदशिखर जी सिद्धक्षेत्र पर आकर

योगनिरोध करते हैं। इस प्रसंग पर सम्मेदशिखरजी की भव्य रचना हुई थी। श्री सम्मेदशिखर से भगवान मोक्ष जाते हैं, और अग्निकुमार आदि देव आकर निर्वाण कल्याणक विधि करते हैं– आदि दृश्य हुए थे।

यहाँ भगवान के पंचकल्याणक पूर्ण हुए।

इसके बाद पूज्य गुरुदेवश्री के पुनीत प्रताप से प्रतिष्ठित हुए श्री सीमन्धर भगवान आदि जिनबिम्बों को श्री मन्दिरजी में पधराया गया और पूज्य गुरुदेवश्री ने पवित्र भावों से प्रभुजी का स्वागत करके वेदी पर विराजमान किया। इस समय मंगल जयनाद से मन्दिर गूँज उठा था। मूलनायक भगवान श्री सीमन्धर स्वामी हैं; उनके दाहिनी ओर श्री आदिनाथ स्वामी और बायीं ओर श्री पार्श्वनाथ प्रभुजी विराजमान हैं। इनके अतिरिक्त श्री चन्द्रप्रभु भगवान (चाँदी की प्रतिमा) श्री महावीर भगवान, श्री अरहनाथ भगवान और श्री सिद्ध भगवान की प्रतिमाजी हैं। ऊपर के भाग में श्री नेमिनाथ भगवान, उनके दाहिनी ओर श्री पद्मप्रभजी और चन्द्रप्रभजी हैं; तथा बायीं ओर श्री शान्तिाथ भगवान और कुंथनाथ भगवान् विराज रहे हैं। इसप्रकार जिनमन्दिर में कुल १२ प्रतिमाजी विराजमान हैं। इस प्रकार राजकोट शहर के जिनमन्दिर में महान् देवाधिदेव भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई। राजकोट शहर का जिनमन्दिर अत्यन्त भव्य है। मन्दिर का शिखर ६५ फुट ऊँचा है, ऊपर स्वर्णकलश शोभयमान हो रहा है। मन्दिर में प्रतिष्ठित श्री जिनबिम्बों की मुद्रा अति भव्य और उपशमभाव में निमग्न है।

श्री जिनेन्द्र प्रतिष्ठा के पश्चात् स्वाध्यायमन्दिर में पवित्र परमागम श्री प्रवचनसारजी की प्रतिष्ठा पूज्य स्वामीजी के शुभहस्त से हुई। (जिनमन्दिर का जो आगे का भाग है, वह स्वाध्याय मन्दिर है।) सेठ श्री नानालाल भाई की धर्मपत्नी श्री जड़ावबहन की ओर से (सोनगढ़ के समयसार की भाँति) श्री प्रवचनसार चाँदी के सुन्दर पत्र पर अंकित किया गया है – उसकी प्रतिष्ठा हुई थी।

फाल्गुन सुदी १३ के दिन सवा लाख जप की पूर्णता हुई और शान्तियज्ञ हुआ। शाम को जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकली थी। रात्रि को बालिकाओं ने एक सुन्दर संवाद किया। भरत चक्रवर्ती की एक छोटी उम्र की कुमारी दीक्षा लेकर अर्जिका होने के लिए तैयार हुई हैं; उनके साथ उनकी दूसरी बहनों की तत्त्वचर्चा होती है– आदि प्रसंगों पर संवाद हुआ था। आध्यात्मिक तत्त्वचर्चा और जिनभक्ति से संवाद सुशोभित था। प्रारम्भ में द्रव्यसंग्रह की मूल गाथाओं का भव्य मंगलाचरण इस संवाद की विशिष्टता थी। संवाद करनेवाली बहनों को श्री राजकोट संघ की ओर से लगभग दो सौ रुपये का पारितोषक दिया गया था। बालिकाओं ने वह रुपया श्री राजकोट जिनमन्दिर को भेंट कर दिया था।

इसके उपरान्त इस उत्सव के समय इन्दौर की पंचकल्याणक महोत्सव की फिल्म बतायी गई थी। एकबार मोरबी के महाराजा साहब श्री लखधीर सिंह जी पूज्य स्वामीजी के प्रवचन में और दिगम्बर जैन मन्दिर तथा रथयात्रा देखने के लिए पधारे थे। अजमेर की भजनमण्डली ने समय-समय पर अपने नृत्यगानादि द्वारा प्रतिष्ठामहोत्सव को विशेष दीप्ति किया था। इसके लिए राजकोट संघ की ओर से अजमेर की मण्डली के प्रत्येक भाई को एक-एक रजतपदक अर्पण किया गया था, और भाई श्री नेमीचन्दजी पाटनी की ओर से दो स्वर्णपदक दिये गये थे। बालिकाओं के संवाद से प्रसन्न होकर अजमेर की मण्डली की ओर से प्रत्येक बालिका को एक-एक रजत पदक दिया गया था।

सौराष्ट्र के पाटनगर में श्री जिनेन्द्रशासन की प्रभावना का ऐसा महान सुअवसर प्राप्त करने के लिए और उसे उत्साहपूर्वक निर्विघ्न समाप्त करने के लिए राजकोट के मुमुक्षुसंघ को धन्यवाद है। सौराष्ट्र के पाटनगर में जिनमन्दिर पर लहराता हुआ धर्मध्वज आज सारे सौराष्ट्र में श्री जिनशासन का जय-जयकार बोल रहा है।

उत्सवकाल में भी प्रतिदिन पूज्य स्वामीजी के आध्यात्मिक प्रवचन होते थे। परम पूज्य, परम उपकारी सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के पुनीत प्रताप से और बलवान प्रभावना योग्य से आज हजारों वर्ष में इस सौराष्ट्र देश में पुनः पवित्र जिनेन्द्रशासन की स्थापना हुई है। पूज्य स्वामीजी के मंगलहस्त से ऐसे पवित्र शासन-प्रभावना के अनेक महान कार्य हों और श्री जिनेन्द्रधर्मचक्र सर्वदा सर्वत्र प्रवर्तमान रहे। कल्याणमूर्ति श्री सद्गुरुदेव का प्रभावना उदय जगत का कल्याण करे।

आत्मा की समझ का उपदेश

(पूज्यश्री कानजीस्वामी का व्याख्यान)

'सद्बोध चन्द्र-उदय' की यह सातवीं गाथा है; इसमें आत्मा की प्रतीति कराते हैं। अनन्तकाल में चैतन्य जाति की महिमा एक क्षणमात्र भी नहीं आयी है। आत्मा, शरीरादि परपदार्थों का कुछ भी नहीं कर सकता; क्योंकि वे पदार्थ सत् हैं, उनका परिवर्तित होना उनके अपने आधीन है, दूसरा कोई उनमें कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता। जड़ वस्तु का व्यापार आत्मा नहीं कर सकता। अज्ञानी जीव, राग-द्वेष का व्यापार अपने में करता है, और ज्ञानी-ज्ञान का व्यापार करता है। जगत के तत्त्व स्वतन्त्र हैं और आत्मा उनका दृष्टा है। इसके भान बिना अज्ञानी जीव सन्निपात के रोगी की भाँति बकता है कि–'मैं इसके करूँगा!'–जिसप्रकार सन्निपात का रोगी कभी कहता है कि–'आओ भाई आओ!' फिर कहता है कि 'क्यों आया? यहाँ तेरे बाप का क्या लगता है?' इस प्रकार आगे-पीछे बोलने की उसे किंचित् सन्धि नहीं है, उसी प्रकार अज्ञानी वस्तुस्वरूप को जाने बिना जैसा-तैसा बकता है। जीव या तो ज्ञानभाव करता है या विकारभाव करता है, इसके अतिरिक्त जीव पर का कुछ नहीं कर सकता। अनादि से मूढ़-अज्ञानी जीव को 'पर का मैं करूँ'–ऐसा अहंकार है। विषय-भोगादि तथा प्रतिष्ठा आदि के भाव–वह अरूपी पाप-विकार है। और दया-दान-पूजा-भक्ति के भाव–वह अरूपी पुण्य विकार है। अज्ञानी उस पुण्य-पाप विकार के कर्तृव्य में रुका हुआ है, परन्तु विकारहित ज्ञानस्वरूपी आत्मा है, उसे वह नहीं जानता। अनन्तकाल में एक क्षणमात्र भी शुद्ध आत्मा का सच्चा ज्ञान नहीं किया है। जिस प्रकार दोज उदित हुई, वह पूर्णिमा होती ही है; उसी प्रकार एक क्षणमात्र भी यदि शुद्ध आत्मा का सच्चा ज्ञान करे तो सद्बोधरूपी चन्द्र उदित होता है और पूर्णता होती ही है।

आत्मा शरीर से, वाणी से, पुस्तक से अथवा मन से जाना जाये–वैसा नहीं है। शरीरादि तो पर पदार्थ हैं, उन पर के द्वारा स्वपदार्थ ज्ञात नहीं होता; आत्मा तो अन्तरंगज्ञान से ज्ञात होता है। उसे समझे बिना किसी प्रकार कल्याण नहीं है। चैतन्य तो मन के संकल्प-विकल्प से उस पार है, वह सबका ज्ञाता है। पर की अवस्था उसके अपने स्वतन्त्र कारण से होती है, तथापि मेरे कारण से होती है–ऐसा अज्ञानी मानता है, वह उसका भ्रम है। आत्मा में ते दृष्टापना है; शरीर और आत्मा भिन्न पदार्थ हैं, दोनों के स्वभाव भिन्न हैं, तथापि एक दूसरे का कुछ करते हैं–ऐसा माना उसने दो तत्त्वों को स्वतन्त्र नहीं माना है। जो पदार्थ बिल्कुल न हों, वे नवीन उत्पन्न नहीं होते, और जो हों, वे सर्वथा नष्ट नहीं होते; परन्तु जो पदार्थ होते हैं, वे स्वयं स्वभाव से ही बदलते रहते हैं। शरीर की

अवस्था बदले, वह आत्मा का कार्य नहीं है। जगत् के जड़ और चेतन पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं; उनमें रूपान्तर होकर जो-जो अवस्थाएँ होती हैं, वह उनका कार्य है, और वे पदार्थ उसके कर्त्ता हैं। पर से भिन्न अपना स्वभाव है, उसे जीव जान ले तो पृथक्त्व (मुक्ति) हुए बिना न रहे।

शरीर से तो आत्मा अलग है, और जो पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, वे क्षणिक हैं। आत्मा, मन और वचन से अगोचर है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, वह नित्यस्थिर रहकर बदलनेवाला है—उसका महात्म्य आये तो उसमें रमणतारूप चारित्र प्रगट हो। लेकिन वह चैतन्यमूर्ति आत्मा कैसे ज्ञात होता है? किन्हीं देव-गुरु-शास्त्र द्वारा या पुण्य-पाप द्वारा वह ज्ञान नहीं होता, यदि वह पर से ज्ञात होता हो तो उसकी स्वतंत्रता नहीं रहती, वह स्वयं अपने ज्ञान से ज्ञात होता है। अनन्तकाल में एक क्षणमात्र भी पर से भिन्न चैतन्य का विवेक नहीं किया है; यदि एक क्षण भी ऐसा भेदज्ञान यानी यथार्थ समझ प्रगट करे तो मुक्ति हुए बिना न रहे।

मैं पुण्य-पाप का कर्त्ता—ऐसा माना, उसने विकार को इष्ट माना है। कर्त्ता का इष्ट, वह कर्म। आत्मा को जो इष्ट प्रतीत हो, उसका वह कर्ता होता है। अज्ञानी पुण्य-पाप का कर्त्ता होता है, इससे उसे विकार इष्ट लगता है, और जो विकार रहित निर्मलानन्द चैतन्यस्वभाव त्रिकाल है, उसकी प्रीति नहीं है। निर्विकार चैतन्यस्वभाव है, वह विकार द्वारा ज्ञात नहीं होता। निर्विकार स्वभाव के भान में ज्ञानी विकार के कर्त्ता नहीं होते, जो विकार होता है, उसे वे इष्ट नहीं मानते—इससे वे उसके कर्त्ता नहीं होते।

एक समय के विकार का कर्तृव्य जिसने माना, उसने विकाररहित त्रिकाली स्वभाव का अनादर किया है और विकार का आदर किया है—वह महान अधर्मी है। अज्ञानी को आत्मा का भान नहीं है, इससे वह विकार का कर्त्ता होता है, और वह ऐसा मानता है कि राग द्वारा आत्मा को समझ लूँगा। वास्तव में आत्मा के सत्स्वभाव में राग का अभाव है। सत् का प्रारम्भ सत् से ही होता है; असत् से सत् का प्रारम्भ नहीं होता। धर्म का प्रारम्भ यथार्थ समझ से होता है, परन्तु राग से धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। आत्म को क्या करना चाहिए? आत्मा क्या कर सकता है? और आत्मा में क्या हो रहा है?—उसका अज्ञानी को भान नहीं है। तवे की किनार में से पूर्णिमा नहीं होती परन्तु दोज से होती है; उसीप्रकार शरीर की क्रिया या पुण्य में से केवलज्ञान नहीं होता, परन्तु सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्र में से केवलज्ञान होता है। सच्चा भान होने के पश्चात् ज्ञानी को राग होता है, परन्तु अन्तर में से आत्मभान नहीं हटता और राग का कर्तृत्व नहीं मानते।

सर्वज्ञ भगवान की वाणी में पूर्ण उपदेश आता है। छद्मस्थ जीव वैसा पूर्ण उपदेश नहीं दे सकता, तथापि सम्यग्ज्ञानी हो, वह सम्यक् उपदेश दे सकता है। केवली भगवान की सभा में जाकर जीव ने उपदेश सुना, किन्तु अन्तर में पात्र होकर समझा नहीं। जिस प्रकार हलवाई की

दुकान पर विष नहीं मिलता, वैसे ही ज्ञानी के पास से ऐसा उपदेश नहीं मिलता जिससे संसार की वृद्धि हो। लेकिन जीव की अपनी पात्रता के बिना कल्याण नहीं होता।

आत्मा अपनी भूल के कारण भ्रमण कर रहा है और स्वयं अपनी भूल को दूर करके भगवान होता है। इसके अतिरिक्त किसी भी भगवान ने आत्मा को न तो परिभ्रमण कराया है और न भगवान किसी को तारते हैं। हे भगवान! आप मुझे पार कर दो! जो ऐसा माने तो उसका तात्पर्य यह होता है कि–'भगवान! तुमने मुझे अभी तक भ्रमण कराया है।' कोई मुझे डुबाता है और कोई मुझे उबारता है–ऐसी पराधीन दृष्टि ही जीव को परिभ्रमण कराती है।

यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है कि–प्रभो! आत्मा शरीर से, वाणी से अथवा राग से ज्ञात नहीं होता, तो क्या आत्मा आकाश-कुसुम की भाँति अवस्तु है या सत् वस्तु है? जिसप्रकार आकाश का फूल आँख से, मन से किसी प्रकार ज्ञात नहीं होता, वैसे ही क्या आत्मा भी किसी प्रकार ज्ञात नहीं होता?

श्रीगुरु उत्तर देते हैं–हे शिष्य! आत्मा पुण्य-पाप के विकार से अथवा जड़ से ज्ञात नहीं होता, परन्तु उससे उसका नास्तित्व नहीं हो जाता; क्योंकि आत्मा-स्वानुभूति से ज्ञात होनेवाला है। मन का अवलम्बन और विकार दूर हो जाने से अकेला ज्ञान रह गया, उससे आत्मा ज्ञात होता है। चैतन्यतत्त्व स्वानुभव से ज्ञात होता है, इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से ज्ञात नहीं होता। रागरहित चैतन्यस्वभाव का सत्समागम से महात्म्य करने से वह स्वानुभव से ज्ञात किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरे उपाय निरर्थक हैं। आकाश का फूल तो वस्तु ही नहीं है, इससे वह कहाँ से ज्ञात हो? आत्मा तो सत् वस्तु है। आत्मा तो स्वसंवेदन के द्वारा जाना जा सकता है, परन्तु वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता; तथापि ज्ञानी के उपदेश में निमित्त से पात्र जीव अन्तर में अपनी योग्यता से समझ जाते हैं। जो चैतन्यस्वभाव को जानने के लिए तैयार हुआ, उसे वह ज्ञात होता है। जो चैतन्यस्वभाव को जाने, उसे ऐसा हो जाता है कि अहो! मैंने अपने स्वभाव का महात्म्य कभी अनन्तकाल में नहीं जाना था। मेरे स्वभाव परिपूर्ण महात्म्य मुझमें ही है, वह मन-वाणी से पार है, राग से पार है। जो ऐसे आत्मा को जानने का प्रयत्न करे, उसकी समझ में आ सकता है। अनन्त आत्मा ऐसे आत्मा को जानकर मुक्त हुए हैं, और जो मुक्त होंगे, वे आत्मस्वभाव को जानकर ही मुक्त होंगे। वर्तमानन में ऐसे आत्मा को जानकर जीव मुक्त होते हैं। अन्तर में चैतन्य का साम्राज्य है, उसका इन्कार करके जड़ पैसे से अपना बडप्पन मानता है, वह संसार में भ्रमण करने का मूल है। आत्मस्वभाव को स्वानुभव से यथावत् जानना ही मुक्ति का उपाय है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि– अपनी चैतन्य जाति को तू स्वानुभव से जान तो वह ज्ञात हो सकती है।

स्वभाव-शक्ति का विश्वास

(पद्मनन्दि एकत्व अधिकार गाथा २६ पर चूड़ा शहर में पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन)

परपदार्थ आत्मा से बिल्कुल पृथक् होने पर भी, पर से मुझे लाभ-हानि होते हैं और मैं पर को लाभ-हानि करता हूँ—ऐसी मिथ्याबुद्धि ही संसार है। प्रत्येक तत्त्व अपने स्वभाव से पूर्ण है, उसका जिसे भान नहीं है, वह जीव एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व का आश्रय मानता है। मैं अपने चैतन्यस्वभाव से परिपूर्ण हूँ, अपनी मुक्ति के लिए मुझे बाह्य का किंचित् आश्रय नहीं है—इस प्रकार अपनी पूर्णता का विश्वास न करके, मेरी मुक्ति के लिए कुछ पर की या पुण्य की सहायता चाहिए;—ऐसा मानकर पराश्रय से जीव अनन्तकाल से भटक रहा है। जिस प्रकार कस्तूरीवाले मृग की नाभि में ही सुगन्धित कस्तूरी भरी हुई है; परन्तु उसका उसे विश्वास नहीं है, इसलिए बाहर दौड़-धूप करता है। 'मैं' जो जंगल का घास खाकर जीनेवाला और थोड़ी सी भी आवाज होने से डरनेवाला प्राणी हूँ, मुझमें इतनी अच्छी सुगन्ध कैसे हो सकती है?—इस प्रकार अपनी शक्ति का अविश्वास ही उसे बाह्य में भटकाता है। उसी प्रकार जीव को मुक्त होना है—सुखी होना है; परन्तु मुक्त और सुखी होने का सामर्थ्य अपने में ही भरा है, उसका विश्वास न करके, किसी निमित्त के आश्रय से या व्यवहार के आश्रय से मुक्ति होगी—ऐसा मानकर बर्हिबुद्धि से संसार में भ्रमण करता है। मैं तो अल्पज्ञ और रागी हूँ, मेरा चाय के बिना भी नहीं चल सकता, तो फिर मुझमें सिद्ध परमात्मा होने की शक्ति कहाँ से होगी?—इस प्रकार अपने स्वभाव सामर्थ्य का अविश्वास ही जीव को संसार में परिभ्रमण कराता है। जगत के जीव अपनी अन्तर-शक्ति को भूलकर बाह्य में से सुख और शान्ति लेने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें सुख-शान्ति का मार्ग कहा से हाथ में आये? ज्ञानी कहते हैं कि—'सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समजे ते थाय।' प्रत्येक जीव सिद्धभगवान जैसा परिपूर्ण स्वभाव-सामर्थ्यवाला है। अवस्था में राग-द्वेष और अल्पज्ञता होने पर भी स्वभाव में से सिद्ध होने की शक्ति मिट नहीं गई है। जो जीव सिद्ध हुए, उन्हें भी पहले तो अवस्था में राग-द्वेषादि भाव थे, और स्वभाव की श्रद्धा के बल से उस राग-द्वेष का नाश करके सिद्ध हुए हैं, वह सिद्धदशा कहाँ से आयी? बाहर से नहीं आयी है, परन्तु आत्मा में ही शक्तिरूप से थी, उसमें से प्रगट हुई है। वर्तमान अवस्था में रागादि होने पर भी उनकी मुख्यता न करके (राग जितना ही अपने को न मानकर) सिद्ध भगवान जैसा ही सामर्थ्य मेरे आत्मा में भरा है, अनन्त सिद्ध दशाएँ प्रगट होने की शक्ति मेरे स्वभाव में है—इसप्रकार यदि स्वसन्मुख होकर अपने स्वभाव-सामर्थ्य का विश्वास करे

तो उसके आश्रय से अल्पकाल में अवस्था में से रागादि का अभाव होकर सिद्धदशा प्रगट हो; परन्तु जीव अपने स्वभाव की पहचान ओर प्रतीति नहीं करता, तथा राग-द्वेष ही मैं हूँ–ऐसी पकड़ की है। श्री आचार्य भगवान कहते हैं, हे जीव! यह विकारबुद्धि छोड़ दे, छोड़ दे! प्रभु! अब एकबार स्वभावबुद्धि कर कि–विकार जितना मैं नहीं हूँ, परन्तु सिद्धसमान हूँ। अनादिकाल से स्वभाव को भूलकर विकार को पकड़ रखा है, इसी से भ्रमण हुआ है; अब उस मिथ्या पकड़ को छोड़ दे, छोड़ दे!

कौन कर्ता और क्या उसका कार्य?

(१) धर्मी जीव कर्ता और निर्मल अवस्था उसका कार्य।

(२) अधर्मी जीव कर्ता और विकारी अवस्था उसका कार्य।

(३) जड़-पुद्गल कर्ता और जड़ की अवस्था उसका कार्य।

[१] धर्मी, जीव, विकारी भावों का या शरीरादि जड़ की क्रिया का कर्ता नहीं होता।

[२] अधर्मी जीव विकार का कर्ता होता है, और जड़ शरीरादि की क्रिया मैं करता हूँ– ऐसा मानता है, परन्तु जड़ के कार्य को वह नहीं कर सकता।

[३] शरीरादि जड़ पदार्थ आत्मा की अवस्था में विकार नहीं कराते, और धर्म भी नहीं कराते।

इस प्रकार कर्ता-कर्म का स्वरूप समझकर, शरीरादि जड़ पदार्थों के कार्य का मैं कर्ता हूँ–यह मान्यता छोड़ना चाहिए, और क्षणिक विकार मैं कर्ता तथा वह मेरा कार्य–ऐसी बुद्धि भी छोड़कर, त्रिकाली निर्विकार चैतन्यस्वभाव की दृष्टि में निर्मल अवस्थारूपी कार्य प्रगट करना–उसका नाम धर्म है, धर्मी जीव उसका कर्ता है।

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द, मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र